

संस्कृत वाङ्मय में गुरु-शिष्य परम्परा

मनुष्य और पशु में मूलरूप से कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्तियों दोनों में समान हैं। इसलिए विवेकी विद्वान कहते हैं कि इसमें यदि कोई अन्तर है तो वह है ज्ञान और विद्या का अन्तर। इसी ज्ञान और विद्या को ही धर्म के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है -

आहारनिद्राभय मैथुनञ्च

सामान्यं येतत् पशुभिर्नाराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः ।

धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः ॥

विद्या और ज्ञान यद्यपि मनुष्य की बौद्धिक क्षमता पर आग्रित होते हैं तथापि इनकी अवधारणा के लिए वैदिक काल से ही आचार्य की अपरिहार्यता स्वीकार की गई है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में वेद विविध देवताओं की स्तुति करते हुए इन्द्र तथा अग्नि आदि देवों को आचार्य का पद देते हैं और कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम्हारे समान विद्वान कोई नहीं है। तुम यजमानों के हृदय का अन्धकार दूर कर देते हो। अथर्ववेद में एक स्थान पर आचार्य को माता के रूप में स्तुत किया गया है, जो उपनयन संस्कार के समय शिष्य को ज्ञान देने की इच्छा से तीन रात्रियों तक अपने गर्भ को धारणा करता है -

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।

तं रात्रीस्तिंस्तु उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुभिं संयान्ति देवाः ॥ १

मिरुक्तकार ने ज्ञान प्रदाता आचार्य को माता-पिता के रूप में स्वीकार किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र, विष्णुसूत्र, गौमतसूत्र आदि ग्रन्थों में भी आचार्य के लिए यही धारणा व्यक्त की गई है।

वेदों का कथन श्रुति के रूप में भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय है - सुनकर इन्हे धारण करना। प्रारम्भिक समय में वैदिक साहित्य आचार्य के मुख से सुनकर ही धारण किया था, इसलिए यह श्रुति कहा गया। यह प्रक्रिया आचार्य और के सम्बन्ध से सम्पादित होती थीं।

वर्ण और आश्रम व्यवस्था इस देश की प्राचीनतम व्यवस्था है। इस व्यवस्था का संकेत पूरे संस्कृत वाङ्मय में किया गया है। आश्रम व्यवस्था में शिष्य अपने इच्छित गुरु के आश्रम में जाता था और वहाँ रहकर गुरु से विद्या प्राप्त करता था। उपनिषद् काल में यह परम्परा पूरी तरह से प्रचलन में आ चुकी थी। ब्रह्मचर्याश्रम एक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने का आश्रम था और इसमें निवास करते हुए आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध पिता तथा पुत्र की ही भाँति था। तब का अध्यापन आचार्य के लिए धन प्राप्ति का साधन नहीं था,



इसलिए गुरु शिष्य को स्नेहसिक्त होकर शिक्षा देते थे। शिष्य के लिए भी जीवन का उद्देश्य केवल उदर पोषण तक ही सीमित नहीं था। इसी कारण आचार्य उपदेश देते हुए कहते थे कि सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, जो हमारे आचरण श्रेष्ठ हों, उनका अनुकरण करो - 'सत्यं वद, धर्मं चर, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, यानि अस्माकं अनवद्यानि कर्माणितानि सेवितव्यानि, नेतराणि ।'

गुरु और शिष्य की परम्परा के द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के संकेत संस्कृत साहित्य के आदि काव्यों वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत में भी प्राप्त हैं। श्रीराम अपने भाइयों के साथ अवध में अपने कुलगुरु महाराज वशिष्ठ से वैदिक ज्ञान प्राप्त करते हैं और याद में महर्षि विश्वामित्र के साथ जाकर शस्त्रविद्या की प्राप्ति भी करते हैं। महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि श्रीराम ने विधिवत पवित्र होकर त्रटी से विद्याएँ प्राप्त कीं -

ततो रामो जलं स्पृष्टवा प्रहष्टवदनः शुचिः ।

प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेभावितात्मनः ।

विद्या समुदितो रामः शुशुभे भीमविक्रमः ॥

इसी प्रकार से महाभारत में भी कौरवों तथा पाण्डवों द्वारा आचार्य

द्रोण तथा कृष्णाचार्य से शस्त्रादि की शिक्षा प्राप्त करने का वर्णन है।
 आचार्य द्रोण ने महर्षि परशुराम को अपना गुरु बनाकर उनका
 शिष्यत्व स्वीकार किया था तथा उनसे प्रार्थना की थी कि वे उन्हें
 शस्त्र-विद्या से मणित करने की कृपा करें -
 अस्त्राणि में समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
 सप्रयोग रहस्यानि दातुमहस्यशेषतः ॥
 तथेत्युक्त्वा तत्स्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
 सरहस्यब्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥

स्मृतिकारों में महर्षि मनु की स्मृति मनुस्मृति का महत्व निर्विवाद
 है। महर्षि मनु ने आचार्य के महत्व का कथन करते हुए कहा है कि
 जन्म देने वाला तथा ज्ञान देने वाला दोनों ही पिता कहे जाते हैं।
 शिष्य के लिए महर्षि ने लिखा है कि जिस प्रकार भूमि का खनन
 करते-करते जल मिल जाता है, उसी प्रकार सेवा करते करते गुरु
 की विद्याप्राप्त हो जाती है -

यथा खनिन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
 तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥
 महाकवि कालिदास ने हिमालय पर्वत पर स्थित वशिष्ठ आश्रम का
 वर्णन किया है। इस आश्रम में विद्यार्थी वृक्ष लगाते थे और उनका
 संवर्धन करते थे। इसी प्रकार से बाण ने अपनी कादम्बरी में महर्षि
 जाबालि के आश्रम का वर्णन करते हुए लिखा है कि महर्षि तेजस्वियों
 में परम तेजस्वी, संतोषा रूपी अमृत के सागर, लोमरूपी समुद्र के
 सुखाने के लिए बड़वानल और सर्वविद्या प्रवेश हेतु तीर्थरूप हैं -
 एष प्रवाहः कारुणारसस्य, संतरणसेतुः संसारसिंधोः आधारः
 क्षमाम्भसाम्, परशुतृष्णा लतागहनस्य, सागर संतोषा
 मृतरसस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य, तीर्थसर्वविद्यावताराणाम्।
 बाण ने स्वयम् ही चौदह वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में रहकर
 अध्ययन किया था। बाद में वे अन्य अनेक गुरुकुलों में भ्रमण करते
 रहे थे। उन्होंने उन गुरुकुलों का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ
 पर विद्या का विमल प्रकाश प्रकाशित रहता था।

संस्कृत गद्य-परम्परा के प्रसिद्ध रचनाकार पं. अम्बिका दत्त
 व्यास ने भी उन आश्रमों का उल्लेख किया है जिनमें गुरु और शिष्य
 साथ-साथ रहकर अध्यापन कार्य करते थे और पिता-पुत्र सदृश
 स्नेहित सम्बन्ध का समय व्यतीत करते थे। और इस सूप में यहाँ पर
 यह कहना संगत है कि गुरु-शिष्य परम्परा इस देश की पुरातन परम्परा
 रही है और इसका वर्णन संस्कृत साहित्य में विस्तारपूर्वक किया
 गया है। यह इस परम्परा का ही प्रतिफल रहा है कि यहाँ का श्रेष्ठतम्
 ज्ञान मानवीय संवेदना का बाहक बना। आज भी यदि शिक्षा की
 विसंगतियाँ दूर करना अपेक्षित हो, तो इस परम्परा का आश्रम लेना
 लाभकारी हो सकता है।

-डॉ. गदाधर त्रिपाठी शास्त्री